मनुष्य से कम ही लेना-देना था। उन समस्याओं का अपना महत्त्व है, क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केन्द्र-बिन्दु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा। या एक अन्य प्रकार से कहें तो यह दर्शन का अपनी जिम्मेदारी निभाना नहीं है। पर यह सहज रूप में भी पूछा जा सकता है कि हम यह जिम्मेदारी की बात क्यों करने लगे? क्या दार्शनिक चिन्तन किसी अन्य के प्रति जिम्मेदार हो सकता है? अपनी चिन्तन-प्रक्रिया का अपने प्रति वफादार होना दो अलग बातें नहीं हैं, और कुछ हद तक हमने यही बात इस लेख में कहने की कोशिश की है। पहले के लेख में भी, जिसका शीर्षक था 'आओ कुछ नया सोचें' इसी तरह की एक अन्य कोशिश की गई थी। अगर आपको इससे कुछ बौद्धिक रसास्वादन हुआ हो तो इस प्रकार के चिन्तन को हम और आगे बढ़ाने की कोशिश कर सकते हैं। बात तो तब है जब आप खुद यह कोशिश करें और कुछ इस तरह की चीज़ 'उन्मीलन' को लिखकर भेजें। आशा है कम से कम 'उन्मीलन' के कुछ पाठक तो ऐसा अवश्य करेंगे। ❑

आओ कुछ और सोचें (3)

अभी कल ही की तो बात है, मैं भूल ही गया था। पर वहाँ पता चला कि एक बहुत बड़ा सेमीनार 'ऋत' पर हो रहा था। 'ऋत' की चर्चा वेदों में हुई है और यह उनमें एक मूल विचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए इस पर विचार होना स्वाभाविक ही है। पर मैंने एक मित्र से यह भी सुना कि वहाँ बहुत बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग भी भाग ले रहे थे जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के बारे में विचार प्रस्तुत कर रहे थे और यह कहने की कोशिश कर रहे थे कि सारा जड़ जगत्, जो भौतिक विज्ञान का विषय है, उसे गहराई से देखने पर एक ऐसी अन्तर्व्याप्त व्यवस्था का दर्शन होता है जिसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है, और जैसा कि सबको पता है आधुनिक विज्ञान के कई प्रणेताओं ने यह भी कहने की कोशिश की है कि अव्यवस्था से ही व्यवस्था का जन्म होता है। इस बारे में इलिया प्रिगोगिन की किताब भी है **ऑर्डर आउट ऑफ़ केओस**। यही नहीं, आजकल तो केओस पर भी बहुत सी किताबें हैं और इसके गणित की भी संरचना हुई है। पर जरा सोचिए कि शुद्ध जड़ प्रकृति के संदर्भ में यह बात कहने का, कि उसमें व्यवस्था है या अव्यवस्था, यह नियम से संचालित होती है या ऐसे ही, क्या अर्थ होगा? 'अराजकता', 'अव्यवस्था' आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग एवं सोच केवल राज्य और मनुष्य की बनाई हुई संस्कृति के संदर्भ में ही मूलत: युक्त है। हम यह मानकर चलते हैं कि जो हो रहा है वह ठीक नहीं है, उससे अनेकानेक मनुष्यों को हानि ही नहीं होती बल्कि प्रत्येक व्यक्ति, जो सहज रूप में अपना काम करना चाहता है और ऐसे काम जो स्वयं में ठीक हैं, कम से कम अशुभ नहीं हैं, या किसी दूसरे का अहित भी जिनसे नहीं होता, उनको भी करने में रुकावट महसूस करता है। अव्यवस्था या अराजकता किसी व्यवस्था या मनुष्य द्वारा रचित नियमों को मानकर चलती है। पर प्रकृति में यह कहने का कि यहाँ अव्यवस्था है या अराजकता है, इसका अर्थ क्या होगा? क्या जब हवा धीरे-धीरे बहती है तब व्यवस्था है और जब तूफान या बवण्डर आकर हजारों घरों को बर्बाद करता है तब वह अराजकता कहलायेगी? इसी तरह, जब भूचाल आता है और पृथ्वी फट जाती है और नगर के नगर नष्ट हो जाते हैं तब क्य वह अव्यवस्था या अराजकता की सूची में माना जाएगा? क्या कभी कोई ऐसा उदाहरण सोचा जा सकता है जो प्रकृति में अराजकता या अव्यवस्था होने का उदाहरण हो? वैसे तो जो भी होता है

वह व्यवस्था का ही उदाहरण होगा, क्योंकि 'अव्यवस्था' जैसे शब्द का इस संदर्भ में प्रयोग ही अनुचित है, और अगर हम केवल ऐसी कोई 'व्यवस्था' मानें जो मनुष्य के लिए, प्राणि-जगत् के लिए हितकर हो तो यह तभी हो सकता है जब हम यह मानकर चलें कि सारा विश्व मनुष्य के हित के लिए ही बनाया गया है। पर इस 'मानने' का क्या आधार है? कम से कम आज का विज्ञान तो इसको मूल रूप में ही अस्वीकार करता है। यही नहीं, इस पर और गहराई से विचार करें तो यह सवाल होता है कि जड़ जगत् में व्यवस्था की बात करना किसी भी परम शक्ति की कल्पना करना नहीं है, जो इसका नियमन करती है। यदि ऐसा नहीं मानें तो फिर मनुष्य के द्वारा प्रकृति के क्षेत्र में व्यवस्था की बात करने का औचित्य समझना कठिन होगा। व्यवस्था किसने बनाई और क्यों और किसके लिए बनाई?

इस सबका सीधा-साधा मतलब यह है कि जड़ जगत् के संदर्भ में किसी व्यवस्था अव्यवस्था की बात करना उसको मनुष्य के बनाए हुए समाज या राज्य के अनुरूप ही समझना होगा और उन दोनों में कोई मूलभूत भेद अस्वीकार करना होगा। पर यह तो उस सब को एक प्रकार से नकारना है जो आधुनिक विज्ञान को 'आधुनिक' बनाता है, जिसे एक तरह से पश्चिमी सभ्यता में मध्ययुगीन दृष्टि कहा जाता है, और जिसका खण्ड़न करके आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ था। इस तरह की दृष्टि सब पुरानी संस्कृतियों व सभ्यताओं में मिलती है। जिसे आज हिन्दू 'धर्म' का नाम दिया जाता है उसमें तो यह स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। ये सब संस्कृतियाँ करीब-करीब किसी न किसी रूप में ईश्वर को मानती हैं, जो जगत् का सृष्टा है और जिसके बनाये नियमों के अनुसार ही जगत् चलता है। पर आज ईश्वर को कोई नहीं मानता और न ही यह कोई मानता है कि यदि ईश्वर है भी तो वह जगत् के किसी भी कार्यक्रम में कोई हस्तक्षेप कर सकता है। पर ऐसे ईश्वर को मानने से क्या फायदा जो अपनी सृष्टि के बारे में कुछ भी नहीं कर सके? और अगर हम यह मानें कि वह हमेशा जगत् में जो चाहे कर सकता है तब उस सृष्टि के अपने नियम तो कुछ हो ही नहीं सकते। और अगर ऐसा मानें कि भगवान् ने जो सृष्टि बनाई है वह अपने आप में इतनी ठीक होगी कि उसमें कभी भी कोई हस्तक्षेप की जरूरत ही नहीं पड़ेगी, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि अव्यवस्था जैसी चीज हो ही नहीं सकती और किसी को यह लगना कि अव्यवस्था है, यह केवल उसके अज्ञान का ही परिणाम होगा।

इस प्रकार से देखने पर तो ऐसा लगता है कि इस मान्यता में कि जगत् सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सृष्टि है, या यह मानना कि स्वयं चालित है और अपने आन्तरिक नियमों से ही नियमित होता है, कोई विशेष भेद नहीं है। पर दोनों ही अवस्थाओं में जगत् के सम्बन्ध में अव्यवस्था की बात करना या तो उसको मानव के स्वार्थों के संदर्भ में देखना है या अपने अज्ञान का परिचय देना है।

पर सवाल यह है कि क्या मनुष्य के बनाए हुए समाज और राज्य के संदर्भ में यह बात कही जा सकती है कि वहाँ भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि वहाँ अव्यवस्था जैसी चीज हो ही नहीं सकती और यदि किसी को वहाँ अराजकता या अव्यवस्था दिखाई देती है तो वह केवल उसके अज्ञान के ही कारण है, या इसलिए कि वह उसको अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों के संदर्भ में ही देखता है? लेकिन मनुष्य होने का अर्थ तो यह है कि वह पुरुषार्थी है, यानि जो उसे असत्य, अशिव या असुन्दर प्रतीत होता है उसे सत्य, शिव या सुन्दर में बदलने की कोशिश करना उसका कर्त्तव्य है। उसे अपने में 'दृष्टि और शक्ति ये दोनों' महसूस होनी चाहिएँ। 'दृष्टि' वह है जो उसे यह बताती है कि जो है वह ठीक नहीं है, उसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है और शक्ति वह जो उसे उस कर्म की ओर प्रेरित करती है जिससे उसकी वस्तुस्थिति में कुछ सुधार हो। इस 'दृष्टि' और 'शक्ति' के समन्वय का नाम ही पुरुष है और यही मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण माना गया है, जो लक्षण उसे अन्य सब योनियों या प्राणियों से भिन्न करता है। इस संदर्भ में तो भारतीय चिन्तन परम्परा में यहाँ तक कहा गया है कि देवलोक के निवासी भी इस दृष्टि-शक्ति समन्वय के भागीदार नहीं होते, वे केवल अपने किये हुए कर्मों का भोग ही प्राप्त कर सकते हैं, किसी नये कर्म का सृजन नहीं। यह ठीक है कि दृष्टि और शक्ति दोनों मनुष्य में सीमित मात्रा में ही हैं, पर इनकी सीमितता ही पुरुषार्थ को जन्म दे सकती है क्योंकि कोई सर्वज्ञ है तो वह कुछ कर ही नहीं पाएगा और यदि सर्वशक्तिमान् है तो फिर यह कहना मुश्किल होगा कि वह सर्वज्ञ है या नहीं, क्योंकि कम से कम यह तो मानना पड़ेगा ही कि सर्वशक्तिमान् होने के लिए उसको यह पता न हो कि वह स्वयं करने जा रहा है। क्योंकि अगर यह मानें कि उसे सब ज्ञात है, तो उसके लिए करणीय कुछ रहेगा ही नहीं। कर्म सम्भावनाओं के बीच ही हो सकता है, नियत स्थिति में नहीं।

भारतीय चिन्तन ने इस भेद को ऋत और धर्म के प्रत्ययों से समझने की कोशिश की थी और धर्म को मनुष्य का वह लक्षण माना था जो उसको अन्य प्राणियों से अलग करता है। पर ऐसा लगता है कि भारतीय परम्परा में धर्म और ऋत के सम्बन्ध में कोई गहरा विचार नहीं किया गया। ऋत तो वह है जिसका उल्लंघन हो ही नहीं सकता जबकि धर्म के साथ अधर्म इस हद तक जुड़ा हुआ है कि कई संदर्भों में तो अधर्म का नाश करना ही धर्म हो जाता है। स्वयं कृष्ण ने गीता में कहा है कि जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म बढ़ता है तब मैं अधर्म का नाश करने के लिए युग-युग में जगत् में अवतरित होता हूँ। 'सम्भवामि युगे-युगे' गीता के प्रसिद्ध श्लोक का भाग है और प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने तो इसको भारतीय परम्परा के चार मूल स्वरों में बतलाया है। लेकिन इस पर थोड़ा विचार करें तो लगता है कि बेचारे कृष्ण उसी सिद्धि में लगे हुए हैं जिसमें हर मनुष्य अपने को पाता है, क्योंकि मनुष्य का धर्म से यह सम्बन्ध है कि अधर्म का नाश करे और

धर्म की स्थापना करे। किन्तु थोड़ा और विचार करें तो इससे ज्यादा हताशा की बात क्या होगी कि स्वयं भगवान् को धर्म की रक्षा और स्थापना के लिए बार-बार आना पड़ता है और एक बार स्थापना करने के बाद ऐसा नहीं होता कि धर्म का साम्राज्य स्थिर हो जाये। यह कैसी विड़म्बना है कि राक्षसों का ही बोलबाला है, अधर्म ही शक्तिमान् है और धर्म का पालन करने वालों या धर्म की स्थापना की कोशिश करने वालों को हमेशा भगवान् ही की सहायता की ज़रूरत होती है।

थोड़ा और विचार करें तो जो भी पुरुषार्थ है वह एक प्रकार से मनुष्य की अपेक्षा करता है, क्योंकि वह ऐसा सत्य है जो बगैर सतत् प्रयत्न के न तो प्राप्त हो सकता है और न ही प्राप्त होने के बाद उसी स्थिति में बना रह सकता है, और 'धर्म' कुछ-कुछ इसी प्रकार की 'चीज़' मालूम होती है। इसके विपरीत जगत् में जो भी नियम हैं उनको लागू होने के लिए किसी के प्रयत्न की जरूरत नहीं होती। उनको एक प्रकार से 'नियम' भी कहना केवल मनुष्य के ज्ञान के संदर्भ में ही ठीक लगता है, क्योंकि वास्तव में तो उनको नियम कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वे ऐसे नियम हैं जो न तो किसी ने बनाये हैं और न ही उनका उल्लंघन किया जा सकता है। हमें तो यह भी नहीं मालूम कि उनके उल्लंघन की बात का अर्थ भी क्या होगा, क्योंकि अगर उनका कहीं उल्लंघन पाया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि हमारा उन नियमों का ज्ञान ही गलत था और हमको अपने उल्लंघन के आधार पर उन नियमों में परिवर्तन की ज़रूरत महसूस होती है।

यह ठीक है कि आधुनिक विज्ञान कुछ इस प्रकार की बात भी करता है कि कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ऐसे नियमों की बात ही नहीं की जा सकती जिनके आधार पर हम वस्तुस्थिति के बारे में पूर्णतया निर्धारित कर सकें कि वह किस प्रकार की होगी, और यह अपूर्णता कोई मनुष्य के ज्ञान की नहीं है बल्कि वस्तुस्थिति ही इस प्रकार की है कि ऐसा निर्धारण किया ही नहीं जा सकता। हाइज़नबर्ग का प्रसिद्ध सिद्धान्त, जिसका नाम ही 'प्रिंसीपल ऑफ़ इन्डिटर्मिनेसी' या 'प्रिंसीपल ऑफ़ अन्सर्टेन्टी' है, इस बात की ओर इशारा करता है। इस संदर्भ में यह सब को विदित है कि आईंस्टाइन ने अपने जीवन भर इसको कभी भी अन्तिम रूप में स्वीकार नहीं किया। उसने यह कहा था कि भगवान् कोई मनुष्य के साथ जुआ नहीं खेलता है। उसका कहने का आशय यह था कि प्रकृति कोई इस प्रकार की चीज़ नहीं है कि हमें यह पता ही नहीं हो कि पांसे कब और किस ओर पड़ेंगे। आधुनिक विज्ञान का झुकाव हाइज़नबर्ग की ओर अधिक है और आईंस्टाइन की बात को तो अब कोई भी स्वीकार नहीं करता। इसी संदर्भ में आज विज्ञान के क्षेत्र में 'केओस' की बात होती है। अधिकतर उनके कहने का सीधा-साध अर्थ यह होता है कि परमाण्विक स्तर पर वस्तुस्थिति ही कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके बारे में पूर्ण निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या और कैसा रूप लेगी। ऐसा ही कुछ-कुछ उस स्तर की घटनाओं के बारे में भी कहा जाने लगा है जो

ब्रह्माण्ड के स्तर पर घटित होती है, यानि जहाँ देश का विस्तार अत्यन्त विशाल और गति अकल्पनीय रूप से तीव्र होती है।

पर ये सब बातें कितनी ही रुचिकर लगें इससे मूल बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो इससे न तो विज्ञान की प्रगति पर ही असर पड़ा है और न उससे निकलने वाली उस यंत्र-व्यवस्था पर जो मनुष्य के प्रकृति पर अधिकाधिक नियंत्रण का सबूत देती है। दूसरी ओर घटनाओं के बारे में अनिश्चितता कोई नई बात नहीं है। मनुष्य ने यह हमेशा जाना है और आज भी वह जानता है कि उसके अपने जीवन में समाज और राज्य में होने वाली घटनाएँ मूलरूप से अनिश्चित ही रहती हैं। आज भी चाहे समाज और राज्य के क्षेत्र से सम्बन्धित ज्ञान को विज्ञान कहकर इन विषयों के जानने वाले अनेक लोग अपने को और दूसरों को इस मूल बात के बारे में भुलावा देने की कोशिश करें कि इन क्षेत्रों की वस्तुस्थितियाँ भी जड़ प्रकृति के समान निर्धारणीय हैं, किन्तु यह भुलावे से अधिक कुछ नहीं है। यह सही है कि इधर विज्ञान ने मनुष्य विषयक कुछ क्षेत्रों में भी प्रवेश कर लिया है, जैसे जनन-कण के क्षेत्र में और उससे स्त्री को पुरुष में और पुरुष को स्त्री में बदलना सम्भव हो गया है। पर इस परिवर्तन से क्या होता है? क्योंकि परिवर्तन होने के बाद तो उस बेचारे को या उस बेचारी को वही सब अनुभव करना या भोगना पड़ता है जो जन्मजात स्त्री या पुरुष के हिस्से में आता है। यही बात राज्य और अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भी ठीक लगती प्रतीत होती है, क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि आज अन्याय कुछ कम हुआ है, या धर्म का प्रभाव पहले से कम या मनुष्य का मनुष्य से व्यवहार कोई कम सहानुभूति या स्नेह से प्रेरित होता है और अगर ऐसा है तो अधर्म से लड़ाई भी उतनी ही अनिवार्य होती है जैसी वह मनुष्य को हमेशा लगी है। रामायण-महाभारत आदि को पढ़ने पर जैसा वहाँ अधर्म का साम्राज्य दिखाई देता है वैसा ही कोई भी अपने चारों ओर देख सकता है, या दिखाई नहीं दे तो अखबार में पढ़ सकता है।

पर यदि प्रकृति में कोई सर्वव्याप्त नियम होना, जिसे चाहे आप ऋत कहें चाहे कुछ और, मनुष्य की कोई सहायता नहीं करता तो उसी प्रकार ऐसा भी लगता है कि वे लोग, जिन्होंने संस्कृति या सभ्यताओं के मूल में मनुष्य की समस्या पर विचार किया है और उसको राह दिखाने की कोशिश की है, उनके प्रयत्न भी उतने ही बेकार साबित हुए हैं, फिर चाहे वे बुद्ध हों या महावीर, ईसा हों या मुहम्मद, कन्फ्यूशयस हों या लाओत्से, शंकर हो या रामानुज। क्योंकि इन सब के होने के बावजूद मनुष्य कुछ हद तक वैसे का वैसा ही दिखाई देता है जैसा कि वह प्राचीनतम युगों में पाया जाता है। आज भी हमारे सामने स्वयं इतने महापुरुष हुए हैं जिनका नाम लेते ही मस्तिष्क श्रद्धा से नत हो जाता है, जैसे—गाँधी, अरविन्द, रमन महर्षि आदि, पर जो आज समाज और राज्य में इन सब लोगों के बावजूद है, उसको बताने की भी ज़रूरत नहीं है। यही नहीं, महाभारत या रामायण

का काल लें, जब भक्तों के अनुसार स्वयं भगवान् ने कृष्ण और राम के रूप में अवतार लिया था, तब भी अब से कोई बहुत अच्छी स्थिति थी, ऐसा नहीं लगता। कृष्ण तो, ऐसा माना जाता है कि द्वापर के अन्त में हुए और तब से ही कलियुग का प्रारम्भ भी माना जाता है। राम के बारे में तो यह स्पष्ट नहीं है कि उनके साथ त्रेता का अन्त हुआ या नहीं पर राम-राज्य में सीता और शम्बूक की जो दशा हुई वह सब को विदित है और राम के बाद साहित्य या इतिहास का या अयोध्या का पता ही नहीं चलता कि उसका क्या हुआ?

इसलिए ऐसा लगता है कि न ऋत का विचार हमारी कोई सहायता कर सकता है और न आदिकाल से चले आने वाले बहुत से प्रसिद्ध धर्मों का। धर्म-सम्प्रदायों के बहुत से संस्थापकों ने तो इस विषय में कहा है कि इसका कारण शायद यही है कि मनुष्य में धर्म करने की स्वतंत्रता है और इसीलिए वह जब ठीक काम करता है तब वास्तव में उसे 'धर्म' का नाम देना उचित लगता है। क्योंकि प्रकृति में यदि कोई कण या वस्तु अपने नियम के अनुसार काम करती है तो चाहे एक अर्थ में उसको 'धर्म' ही कहा गया है किन्तु उसको चलाने के लिए हम उसकी कोई प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि वह उसके विपरीत तो कर ही नहीं सकता। उसने स्वेच्छा से उस नियम के अनुसार चलने का कोई चयन नहीं किया है। और अगर जड़ जगत् में पाये जाने वाले परमाणुओं के लिए कोई ऐसा कहे भी, जैसा प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री रिचर्ड फाईनमैन ने कहा है, तो भी उस 'चयन' को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह किसी विचार से प्रेरित नहीं होता और न ही किसी आदर्श को प्राप्त करने की भावना या संकल्प से प्रेरित होता है, जबकि मनुष्य होता है।

फिर भी, जड़ जगत् में इसी नियम की बात करने और अध्यात्म जगत् के संदर्भ में धर्म की बात करने में एक मूलभूत भेद अवश्य है और वह भेद यह है कि पुराने मनीषियों ने जो भी कहा है वह मनुष्य के स्वयं के चयन के संदर्भ में एक ऐसी सार्थकता रखता है जो प्रकृति में होने वाली कोई चीज कभी भी नहीं रख सकती। इसका एक कारण तो यह है कि वह सब अधिकतर मनुष्य के कर्म के संदर्भ में ही कहा गया है और जो भी उन्होंने कहा है वह अधिकतर मनुष्य की स्थिति को ध्यान में रखकर ही कहा गया, जबकि जड़ जगत् के नियम जड़ जगत् की वस्तु के व्यापार से ही सम्बन्धित होते हैं और उनको 'जड़' कहने का अर्थ ही यह होता है कि उनमें उस चेतना का मूलत: अभाव है जो किन्हीं आदर्श मूल्यों की ओर 'उन्मुख' होती है और उनको अपने कर्म में चरितार्थ करने की चेष्टा करती है। इसीलिए जब हम किसी भी पुराने ऋषि या मनीषी की वाणी को सुनते या पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है वह जैसे हमको ही सम्बोधित करके कुछ कहा गया है। पर यह ठीक होते हुए भी अनेक बार हमें ऐसा लगता है कि वह जो कहा गया है वह उचित नहीं है। फिर भी, चूँकि हमारे संस्कृतिजन्य संस्कारों से उनके प्रति एक

अपार श्रद्धा का भाव बना हुआ है इसलिए हम अपनी आशंका को या अपने संदेह को परे रखकर यही सोचते हैं कि शायद हमने उनके सही अर्थ को पहचाना ही नहीं, या अभी हम खुद इतने परिपक्व नहीं हुए हैं कि उनकी बात को समझ सकें। पर यह भावना एक प्रकार से जहाँ यह बताती है कि पुरातन के प्रति हमारी कितनी श्रद्धा है वहीं दूसरी ओर यह अपने प्रति अविश्वास को भी प्रकट करती है। यही नहीं, यह अपने अनुभव और अपनी बुद्धि के प्रति ईमानदारी के अभाव को भी प्रकट करती है, क्योंकि ईमानदारी तो इसी में है कि अपनी बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर जो खरा नहीं उतरे उसको हम कम से कम ऐसा ज़रूर कहें कि हमारी अपनी राय में वह ठीक नहीं है, फिर वह राय चाहे कितनी ही गलत क्यों न हो। इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे जो भिन्न बात कहते हैं उसमें हमें अश्रद्धा है, फिर वे दूसरे चाहे हजारों साल पहले के हों या अब के। हमारा उनकी बात को नकारने का यह भी मतलब नहीं है कि जो हमारा अपना मत है उसको हम अपने अनुभव या बुद्धि के आधार पर भविष्य में बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे लिए तो केवल इतना ही कहना ईमानदारी की बात होगी कि बड़े-बड़े लोगों ने जो ऐसा कहा है, हो सकता है वह ठीक हो पर हमारा अनुभव और बुद्धि उसे ठीक नहीं ठहराती। अगर कोई यह पूछे कि इसका कारण क्या है तो हमें उसको वह कारण बताने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मनु ने धर्म के ज्ञान की कसौटी के रूप में 'आत्मतुष्टि' की बात की थी उसका शायद मतलब यही था। क्योंकि इसके पहले धर्म के ज्ञान के बारे में उन्होंने श्रुति, स्मृति और सदाचार की बात कह दी थी। अगर ध्यान से सोचें तो इन परम्परागत शब्दों को धर्म के ज्ञान के सम्बन्ध में एक नई दृष्टि से देखा जा सकता है। आखिर अगर धर्म का अर्थ यह बोध ही होता है कि 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं' तो इसका ज्ञान तो 'श्रुति' से ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि आरम्भ में हम दूसरों से ही सुनते हैं ऐसा करो, ऐसा न करो। पर खाली सुनने से तो ज्ञान नहीं होता, उसको हमें अपने अंदर दोहराना पड़ता है और इस दोहराने से ही वह हमारा अपना बनता है। इसी को स्मृति कह सकते हैं। जो 'सुना' था वह अब अपनी याददाश्त बन गया है और कभी कोई हमारे अंदर से कहता है कि ऐसा करो या नहीं करो। पर धर्म-ज्ञान जैसे खाली सुनने से नहीं होता वैसे ही खाली दोहराने से भी नहीं होता, उसको तो आचरण में रूपान्तरित करना होता है। जब तक वैसा करने की या न करने की कोशिश नहीं की जाये तब तक खाली सुनना या न सुनना बेकार ही माना जाएगा। इसी को आचार या सदाचार कहा गया है। सदाचार का साधारण अर्थ यह लिया गया है कि जो सत्पुरुषों के आचरण में अभिव्यक्त हुआ है वही धर्म का मानदण्ड है और उसी से धर्म का ज्ञान होता है, पर इसको हम इस तरह से भी समझ सकते हैं अगर हमने अपनी ईमानदारी से, अपनी कोशिश से, जो सुना था और गुना था उसको व्यवहार में क्रियान्वित करने की चेष्टा की है

और अगर इस क्रियान्वयन से हमारी आत्मा को संतोष नहीं मिलता तो हम यह मानें कि जो हम से कहा गया था, यानि जो हमने सुना था उसका अर्थ जो हमने समझा है, उस सब में ही कहीं कोई गलती है। इसलिए आत्मतुष्टि धर्म की कसौटी के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी श्रुति, स्मृति और सदाचार। यह ठीक है कि इस बारे में विद्वानों में मतभेद है कि इनमें कौन प्रधान या कौन गौण है, या किसको प्राथमिकता दी जाये और किसको नहीं, या ये चारों संयुक्त रूप से धर्म के ज्ञान के अनिवार्य अंग हैं, पर हम जो कह रहे हैं उसके संदर्भ में इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न ही इस बात का कि हम जिस अर्थ में इनको समझने की चेष्टा कर रहे हैं वह एक परम्परा में माने हुए मनु के अर्थों से भिन्न या समान है। पर अगर गौर से देखें तो हमने जो इसका अर्थ आज के संदर्भ में बताया है वह पारम्परिक अर्थ से उतना दूर नहीं है जितना पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है।

पर 'आत्मतुष्टि' भी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो हमेशा एक सी रहती है, और यह तो सब को अपने खुद के अनुभव से मालूम है कि आज जो संतुष्टि प्रदान करता है वह कल नहीं करता और कुछ-कुछ यह बात श्रुति के बारे में भी सत्य है। श्रुतियाँ भी अनेक हैं, और यही आज जाने-माने व्यक्तियों के मत के बारे में भी सच है। ऐसी अवस्था में धर्म का निश्चय करना कोई आसान बात नहीं है, जैसा एक समय बच्चन जी ने कहा था कि 'पथ बताए कौन, सब तो हैं भटकते भूलते से, मच रहा है शोर, मत है ठीक मेरा, ठीक मेरा'।

पर धर्म के बारे में केवल यही कठिनाई नहीं है। एक और कठिनाई यह भी है कि धर्म के साथ धर्मसंकट अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, जैसा कि श्री मुकुन्द लाठ ने अपने अनेक लेखों में दिखाने की कोशिश की है। वास्तव में धर्म-संकट धर्म का अभिन्न अंग इसलिए है कि हमारे धर्म अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक व्यक्तियों के संदर्भ में अलग-अलग होते हैं। यही नहीं, जब कोई ऐसे पद पर होता है जहाँ उसे जनता के समक्ष किसी के 'प्रतिनिधि' के रूप में काम करना होता है तब तो व्यक्तिगत धर्म और उस पद से सम्बन्धित धर्म में अनेक बार विरोध उत्पन्न होता है और इस विरोध को सुलझाना कोई सहज बात नहीं होती। सगे सम्बन्धी, मित्र आदि अनेक लोग, जिनके प्रति आपका आकर्षण होता है,और जिनको आप हमेशा प्रसन्न करना चाहते हैं, वे ही आपसे वह काम करने की आशा करते हैं जो 'प्रतिनिधि' धर्म के विपरीत है और जिसके करने से उन मूल्यों की हानि होती है जिनको पालने के लिए आपको उस पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। राजनीति के क्षेत्र में तो यह सब को विदित ही है, पर अन्य क्षेत्रों में भी यह उतना ही सहज रूप में मिलता है जितना राजनीति के क्षेत्र में। और जहाँ तक व्यापार या वाणिज्य का क्षेत्र है वहाँ तो यह कहना ही मुश्किल है कि 'धर्म' क्या होगा। यही नहीं, इससे भी कठिन स्थिति तो तब उत्पन्न होती है जब मनुष्य उन आदर्श मूल्यों को चरितार्थ करने के लिए उन्मुख होता है जिनके बारे में सब यह मानते हैं कि वे परम पुरुषार्थ

हैं। मोक्ष की साधना के लिए सन्यास लेना अपने यहाँ मानी हुई परम्परा है, पर सन्यास लेने का अर्थ ही यह है कि गृहस्थ-धर्मों और समाज-धर्मों का त्याग करना। अगर मोक्ष की बात छोड़ भी दें तो साधारण अर्थ में भी, जैसे ज्ञान की खोज में, धर्म-संकट उत्पन्न होता है, क्योंकि गृहस्थ-धर्म और समाज-धर्म आदि की उसमें कुछ न कुछ अवहेलना अवश्य होती है। यही बात कला के सम्बन्ध में भी है और समाज सुधार में भी। इस प्रकार धर्म और धर्म-संकट एक दूसरे से इतने बँधे हुए हैं कि यह तय कर पाना कि किस धर्म का पालन किया जाये और किसको छोड़ा जाय, अन्ततोगत्वा व्यक्ति की प्रज्ञा पर ही निर्भर करता है।

धर्म-संकट के इन अनेक पहलुओं पर अगर और गहराई से सोचें तो यह समझना और मुश्किल होगा कि अगर विश्व में 'ऋत' या नियम जैसी कोई चीज़ है तो वह इन धर्म-संकटों में हमें क्या सहायता प्रदान कर सकती है या इनके बीच में फैसला करने में कहाँ तक सहायक हो सकती है। जो वैज्ञानिक आज ब्रह्माण्ड में किसी ऐसे सर्वव्यापी नियम की बात करते हैं वे स्वयं अपने जीवन और अपने सामाजिक या राजनीतिक आचरण में किसी भी ऐसे आदर्श व्यवहार को प्रदर्शित करते दिखाई नहीं देते जो उन लोगों से भिन्न हों जिन्हें उन नियमों का पता नहीं है। वास्तव में तो वैज्ञानिक लोग अपने ही ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि से उसी तरह ग्रसित दिखाई देते हैं जिस तरह अन्य लोग। यही नहीं, उनका अहम् उस ब्रह्माण्डव्यापी नियम में केन्द्रित न होकर अपनी संस्कृति और समाज से ही आबद्ध दिखाई देता है। यही नहीं, यह भी समझना कठिन है कि उस नियम का ज्ञान हमारे कर्म को किस प्रकार से प्रभावित करेगा या हमें अपने धर्मसंकटों से कैसे उबारेगा। क्या करना चाहिए? इसका उत्तर इससे कैसे मिलेगा कि वस्तुस्थिति क्या है, और इससे तो बिल्कुल ही मिलने की आशा नहीं हो सकती कि अनिवार्य रूप में क्या होगा या क्या होने वाला है? मनुष्य का कर्म, जिसके संदर्भ में ही धर्म की समस्या उत्पन्न होती है, भविष्यत की अनिश्चितता से कुछ इस प्रकार से बँधा हुआ है कि उसको उससे अलग ही नहीं किया जा सकता। यह पूर्व मान्यता है कि मनुष्य के 'करने' से घटनाक्रम में कुछ ऐसा परिवर्तन अवश्य होगा जो अन्यथा नहीं होगा। यह ठीक है कि कि कभी-कभी ऐसा लगता है, विशेषकर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में, कि एक व्यक्ति के करने से घटनाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। पर आँकड़ों में परिवर्तन न भी हो तो भी जो उसके कर्म से प्रभावित होने वाले आस-पास के लोग होते हैं, या जो उसके नजदीक होते हैं, उनमें तो परिवर्तन होता ही है। क्योंकि कर्म करने का अर्थ ही यह होता है कि हम जरा सा हँस कर किसी से बात करने से उसको प्रसन्न कर करते हैं और अपनी बातचीत से उसकी चेतना की स्थिति में सहज आनन्द की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं, चाहे वह थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो। इसी प्रकार अपनी छोटी सी ईमानदारी से कुछ देर के लिए तो ईमानदारी का वातावरण बना ही सकते हैं, चाहे फिर समाज या राज्य में कितनी ही

'बेईमानी' क्यों न हो। और आज तो विज्ञान भी स्वयं यह कहता है कि क्षणिक से क्षणिक आकस्मिक घटना भी वस्तुस्थिति को किसी ऐसी दिशा में मोड़ सकती है जो पूरी तरह से अप्रत्याशित हो। अगर ऐसा है तो फिर क्या पता कि किसी व्यक्ति द्वारा किए हुए कर्म का समाज या राज्य के जीवन में क्या असर हो?

मनुष्य का जो अपना रचा हुआ जगत् है और उससे स्वयं जो उसके अस्तित्व से पहले विद्यमान विश्व है उन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है यह कहना मुश्किल है। हालांकि इतना तो सहज रूप में सब को स्वीकार ही होगा कि मनुष्य का अपना बनाया हुआ जगत् उस जगत् की सत्ता को और कुछ हद तक उसके नियमों को मानकर ही चलता है, क्योंकि यदि वह उनको नहीं माने तो वह अपने इस जगत् की रचना ही नहीं कर सकता। पर इस जगत् की रचना के अनेक आयाम हैं। इसका एक आयाम वह है जो एक मनुष्य के अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्धों से बनता है और जिससे समाज और राज्य की रचना होती है। इसी प्रकार चूँकि मनुष्य एक स्वचेतन प्राणी है इसलिए वह अन्य प्राणियों के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व कुछ हद तक तो मानता ही है, क्योंकि वह उनके सुख-दु:ख का कारण हो सकता है। इसीलिए सब संस्कृतियों में मनुष्य पशु-पक्षी, यहाँ तक कि पेड़-पौधों से भी कैसा व्यवहार करे इसकी कुछ हद तक तो चर्चा अवश्य की गई है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य का 'धर्म' केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं होता, वह व्यापकतर जगत् से भी सम्बन्ध रखता है। पर जैसे ही जड़ जगत् की बात शुरू होती है यह समझना कठिन हो जाता है कि क्या उसके प्रति भी मनुष्य का कोई धर्म है? और जब हम ब्रह्माण्ड की बात करते हैं तो अधिकतर वह जड़ जगत् की ही बात होती है। आज का मूलभूत विज्ञान उस भौतिकी के विज्ञान में ही समाहित है जिसे अंग्रेजी में फिज़िक्स का नाम दिया जाता है और उस विज्ञान की पूर्व मान्यता कुछ ऐसी है कि उस जड़ जगत् के नियमों के आधार पर ही सारे प्राणि जगत् को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं, समझा जा सकता है। पर यह मनुष्य के कर्तृत्व को अनदेखा करके ही हो सकता है। यही नहीं, स्वयं मनुष्य ने जिस विज्ञान को जन्म दिया है उसको भी अनदेखा करके ही यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के ज्ञान की यह प्रक्रिया उन नियमों से समझी जा सकती है जो अणु-परमाणु के आपस में व्यवहार से सम्बन्धित है। 'धर्म' मनुष्य के अपने जगत् से सम्बन्धित है। हालांकि उसकी चेतना में ब्रह्माण्ड भी विशेष रूप में उपस्थित होता है, और चूँकि वह अपने को इससे किसी मूलभूत रूप में सम्बन्धित पाता है इसलिए कुछ हद तक 'धर्म' का इस सहज आत्मचेतना से भी रिश्ता है। मनुष्य के लिए यह समझ पाना या स्वीकार कर पाना कि वह ब्रह्माण्ड जिसने उसकी सृष्टि की है, केवल जड़ नियमों से परिचालित होता है या उसमें कोई ऐसी चेतना नहीं है जो मूल्यों के प्रति उन्मुख ही नहीं है, बड़ा मुश्किल है। इसीलिए उसने ऐसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कल्पना की है जो उसका भी सृष्टा है और जड़ जगत् का

भी, जो उसकी 'धर्म' की भावना के प्रति भी सजग है और जो उसके आचरण के भी अनुकूल है। पर आधुनिक विज्ञान तो किसी ऐसे ईश्वर को नहीं मानता और उसकी मान्यता को विज्ञान की प्रगति में बाधक भी समझता है। दूसरी ओर ईश्वर को मानने से भी इस कठिनाई का कोई हल नहीं होता। आखिर संसार में इतना अधर्म क्यों हैं? यही नहीं, जो धर्म का आचरण करते हैं उनको अधिकतर न तो सफलता ही मिलती है और न सांसारिक सुख ही। भारतीय परम्परा ने धर्म के सिद्धान्त का आविष्कार कर इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की है और कुछ अन्य धार्मिक परम्पराओं ने स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना करके इसका हल ढूँढ़ने की कोशिश की है। इसके अलावा यह भी कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को जब यह स्वतंत्रता दे दी है, और स्वतंत्रता के बिना 'धर्म' का कोई अर्थ भी नहीं होता, तब मनुष्य-जगत् में जो होता है उसके लिए ईश्वर को उत्तरदायी क्यों माना जाये? और फिर यह भी कहा गया है कि धर्म के आचरण के सम्बन्ध में यह क्यों माना जाये कि जिससे सफलता और सुख की प्राप्ति हो, वह ही स्वयं में 'श्रेय' है।

इन सब सवालों का असल में कोई हल नहीं है। मनुष्य की स्थिति ही ऐसी है कि वह अपने को ब्रह्माण्ड का अंग भी माने और उससे अलग भी। वह यह भी चाहे कि वह स्वतंत्र हो और इस स्वतंत्रता का उपयोग 'श्रेय' के अनुसार ही हो और यह भी चाहे कि श्रेय और प्रेय का सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि यद्यपि वह श्रेय की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करे तो भी उसे उसी अनुपात में स्वत: प्रेय भी प्राप्त हो। और इससे भी अधिक गहराई यह है कि अधर्म की विजय न हो, धर्म की ही विजय हो। पर साधारण अनुभव इसके विपरीत दिखाई देता है और विडम्बना यह है कि हालांकि अधिकांश में विजय अधर्म की ही दिखायी देती है पर न उसका मन और न उसकी बुद्धि ही इसे स्वीकार कर पाती है, क्योंकि उसके लिए अधर्म-धर्म का भेद ही असली भेद है। इसके विपरीत जगत् की सारी अध्यात्म-परम्पराएँ मनुष्य को यह आश्वासन देती हैं कि अधर्म की कभी विजय नहीं होगी चाहे ऐसा अनेक बार दिखाई पड़े कि अधर्म बलवान् है और धर्म निर्बल। शायद गीता के प्रसिद्ध श्लोक का यही अर्थ रहा हो कि जगत् में जो भी परम शक्ति है वह भी अधर्म की विजय नहीं होने देती। कृष्ण का यह कहना कि—'सम्भवामि युगे-युगे' मनुष्य को यही आश्वासन देता है और मनुष्य के अंदर बैठा हुआ जो परम सत् है वह भी ऐसा कहता प्रतीत होता है, यों चाहे उसे 'यतो धर्मस्ततो जय:' कभी सत्य होता नहीं दिखाई देता। पर ऐसा भी नहीं कि धर्म की विजय होती ही नहीं हो। और फिर धर्म क्या है, इसकी भी खोज उतनी ही अनन्त है जितनी सत्य और सुन्दर की। इसी में शायद मनुष्य जीवन की सार्थकता है, क्योंकि मूल्यों का अन्वेषण ही उसके जीवन को कालक्रम में अर्थवत्ता प्रदान करता दिखाई देता है।

❑